

प्रवचन नं. २६३, गाथा- १८४-१८५-१८६, श्लोक-१२७ दिनाङ्क २६-०६-१९७९,
मंगलवार, अषाढ़ शुक्ल २

समयसार, १८४-१८५ (गाथा का) भावार्थ। जिसे भेदविज्ञान हुआ है, वह आत्मा जानता है कि.. अर्थात्? यह आत्मा जो है, वह अन्दर राग से भिन्न है। शरीर जड़ है, उससे तो भिन्न है, अलग है, परन्तु यह दया, दान, व्रत, काम, क्रोध के भाव से भी वह प्रभु भिन्न है। ऐसा जिसे भेदविज्ञान हुआ है। आत्मा शुद्ध चैतन्य है, उसमें राग भिन्न है। जिसे भेदविज्ञान हुआ है, वह आत्मा जानता है कि 'आत्मा कभी ज्ञानस्वभाव से छूटता नहीं है।' क्या कहा? धर्मी हो, तब उसे आत्मा आनन्द, ज्ञानस्वरूप है, ऐसा भान हो, तब उसे ख्याल में आता है कि यह आत्मा ज्ञानस्वभाव से कभी छूटा नहीं है। अनादि से ज्ञानस्वरूप ही रहा है। ऐसा धर्म है। 'ज्ञानस्वभाव से छूटता नहीं है।'

ऐसा जानता हुआ.. धर्मी जीव की शुरुआत, राग के विकल्प से भिन्न पड़कर स्वयं को अनुभवे-जाने और ऐसा जाने कि यह (आत्मा) तो कभी रागरूप हुआ ही नहीं, अकेला ज्ञानरूप रहा है। आहाहा! 'आत्मा कभी ज्ञानस्वभाव से छूटता नहीं है।' ऐसा जानता हुआ वह, कर्मोदय के द्वारा तप्त होता हुआ भी,.. अर्थात्? कर्म के निमित्त से प्रतिकूलता का ढेर आवे, सातवें नरक जैसी प्रतिकूलता हो। आहाहा! तो भी रागी-द्वेषी-मोही नहीं होता,.. सूक्ष्म बात है, भाई! संवर अधिकार है। लोग कहते हैं कि हमें संवर कराओ। वह संवर नहीं है। वह सब तो आस्रव की बातें हैं। संवर, जिससे धर्म हो, जिससे जन्म-मरण का अन्त आवे, अन्त आवे - उसे यहाँ संवर / धर्म कहते हैं।

वह, कर्मोदय के द्वारा तप्त होता हुआ भी, रागी द्वेषी मोही नहीं होता,.. क्योंकि आत्मा पुण्य-पाप के राग से अन्दर भिन्न जाना है, अन्तर्मुख होकर जाना है कि ज्ञानस्वभावी, आनन्दस्वभावी है। इसीलिए उसे प्रतिकूलता के ढेर होने पर भी वह राग-द्वेष और मोह को प्राप्त नहीं होता। आहाहा! परन्तु निरन्तर शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है। आहाहा! धर्मी जीव तो उसे कहते हैं। आहाहा! आत्मा अत्यन्त आनन्द और शुद्धस्वरूप, पवित्रता का धाम प्रभु है, उसे राग-द्वेष से भिन्न करके अनुभव करना। जैसा

उसका पवित्रस्वरूप है, उस प्रकार से अनुसरकर दशा में होना, उसका नाम यहाँ धर्म अथवा संवर कहते हैं। आहाहा!

जिसे भेदविज्ञान नहीं है.. जिसे राग के विकल्प से, वृत्ति से भी आत्मा अत्यन्त भिन्न है, ऐसा भेद-पृथक्ता का ज्ञान नहीं है। आहाहा! वह आत्मा, आत्मा के ज्ञान स्वभाव को न जानता हुआ.. जो आत्मा ज्ञानस्वभावी है, आनन्दस्वभावी है। अनन्त-अनन्त स्वच्छ शक्ति का पिण्ड है, ऐसा भेदज्ञान है नहीं, वह वैसा नहीं जानता। आहाहा! ऐसी बात है। आत्मा, आत्मा के ज्ञानस्वभाव को न जानता हुआ.. ज्ञानस्वभाव शब्द से पूरा आत्मा। पूरा आत्मा आनन्द और ज्ञान और शुद्ध चैतन्य है। ऐसा जिसे ज्ञान नहीं, वह अज्ञानी राग को ही आत्मा मानता है,.. यह राग की वृत्ति, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यात्रा का भाव उठता है, वह सब राग है। उससे कल्याण माने और मेरा स्वरूप है, ऐसा माने, वह सब राग है, आस्रव है। नये आवरण का कारण है, वर्तमान दुःखरूप है, आहा! परन्तु उससे भिन्न को जानता नहीं, इसलिए कहीं अपना जानने का मानना तो (होता है), अपनापन कहीं माने तो सही न! अकेला चैतन्य भगवान्, राग से भिन्न जानने में नहीं आया, इसलिए राग है, वह मैं हूँ—ऐसा माना है। आहाहा!

राग को ही आत्मा मानता है, इसलिए वह रागी, द्वेषी, मोही होता है,.. आहाहा! अपने स्वरूप को वीतरागीस्वरूप है, ज्ञानस्वरूपी है, उसे नहीं जानता, इसलिए उस रूप परिणमित नहीं होता। राग को जानता है, इसलिए रागरूप परिणमित होता है। आहाहा! भारी सूक्ष्म बात। पूरे दिन दूसरा करना और उसमें ऐसी बात (समझना)। किन्तु कभी भी शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं करता। आहाहा! जो कोई आत्मा बहिर्मुख वृत्ति ऐसा जो राग, उसे अपना जानता है, वह कभी राग से भिन्न आत्मा का अनुभव नहीं करता। आहाहा! सूक्ष्म अधिकार है। बाहर से धर्म हो गया, ऐसा यह नहीं है। व्रत किये और तप किये, पूजा की और भक्ति की, भगवान् की बहुत भक्ति की, इसलिए धर्म हो गया, (ऐसा माननेवाला) वह राग को अपना मानता है, बस! आहाहा! राग से भिन्न भगवान् पड़ा है, इसका उसे ज्ञान और अनुभव नहीं है, इसलिए वह राग के ही अनुभव को आत्मा मानता है। आहाहा!

इसलिए यह सिद्ध हुआ कि भेदविज्ञान से ही शुद्ध आत्मा की उपलब्धि

होती है। उपलब्धि अर्थात् प्राप्ति इसलिए यह सिद्ध हुआ कि भेदविज्ञान.. राग के विकल्प से भी भिन्न, पूर्णानन्द स्वरूप प्रभु, ऐसा जिसे भेदज्ञान हुआ, उससे शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है। क्रियाकाण्ड करते हुए शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं होता। आहाहा!

मुमुक्षु : चरणानुयोग से आत्मा का अनुभव होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बिल्कुल नहीं। चरणानुयोग से नहीं, वह तो यह दृष्टि खुलने के पश्चात् चरणानुयोग का भाव आता है, उसे जानता है। पहले यह होने के बाद चरणानुयोग और व्रत और अतिचाररहित पालना और अमुक, यह बाद में (आता है)।

मुमुक्षु : प्रतिमाएँ नहीं पालनी ?

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रतिमाएँ सम्यग्दर्शन के बाद। पहले प्रतिमा कहाँ थी ? आहाहा! आत्मा आनन्दमूर्ति प्रभु अन्दर है, जिसमें दया, दान का विकल्प राग भी जिसमें नहीं है, ऐसी चीज़ को अन्दर जाने बिना उसकी प्रतिमा-प्रतिमा सब शून्य है। शून्य बड़ा है। अंकरहित शून्य-बिन्दी नहीं कहते ? आहाहा! और अन्तर्मुख देखने से आत्मा राग से भिन्न है, ऐसा भासित होता है। वह भासित होता है, वह आत्मा के अनुभव को करता है। उसे राग-द्वेष और मोह नहीं होता परन्तु अन्तर्मुख की जिसे दृष्टि नहीं, बहिर्मुख की जहाँ दृष्टि है, वहाँ उसे रागादि दिखते हैं, भासित होते हैं। राग भासित होता है, द्वेष भासित होता है। भ्रमणा, उसरूप से परिणमता है। आहाहा!

गाथा-१८६

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो ।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्ध-मेवप्पयं लहदि ॥१८६॥
शुद्धं तु विजानन् शुद्धं चैवात्मानं लभते जीवः ।
जानन्स्त्वशुद्ध-मशुद्ध-मेवात्मानं लभते ॥१८६॥

यो हि नित्यमेवाच्छिन्नधारावाहिना ज्ञानेन शुद्धमात्मानमुपलभमानोऽवतिष्ठते स ज्ञानमयात्
भावात् ज्ञानमय एव भावो भवतीति कृत्वा प्रत्यग्रकर्मास्रवणनिमित्तस्य रागद्वेषमोहसन्तानस्य
निरोधाच्छुद्धमेवात्मानं प्राप्नोति; यस्तु नित्यमेवाज्ञानेनाशुद्धमात्मानमुपलभमानोऽवतिष्ठते
सोऽज्ञानमयाद्वादादज्ञानमय एव भावो भवतीति कृत्वा प्रत्यग्रकर्मास्रवणनिमित्तस्य रागद्वेषमोह-
संतानस्यानिरोधादशुद्धमेवात्मानं प्राप्नोति । अतः शुद्धात्मोपलम्भादेव सम्बरः ॥१८६॥

अब यह प्रश्न होता है कि शुद्ध आत्मा की उपलब्धि से ही संवर कैसे होता है?
इसका उत्तर कहते हैं:-

जो शुद्ध जाने आत्म को, वो शुद्ध आत्म हि प्राप्त हो।
अनशुद्ध जाने आत्म को, अनशुद्ध आत्म हि प्राप्त हो ॥१८६॥

गाथार्थ : [शुद्धं तु] शुद्ध आत्मा को [विजानन्] जानता हुआ-अनुभव करता
हुआ [जीवः] जीव [शुद्धं च एव आत्मानं] शुद्ध आत्मा को ही [लभते] प्राप्त करता है,
[तु] और [अशुद्धम्] अशुद्ध [आत्मानं] आत्मा को [जानन्] जानता हुआ-अनुभव करता
हुआ जीव [अशुद्धम् एव] अशुद्ध आत्मा को ही [लभते] प्राप्त करता है।

टीका : जो सदा ही अच्छिन्नधारावाही ज्ञान से शुद्ध आत्मा का अनुभव किया
करता है वह, 'ज्ञानमय भाव में से ज्ञानमय भाव ही होता है' इस न्याय के अनुसार

आगामी कर्मों के आस्रवण का निमित्त जो रागद्वेषमोह की संतति (परम्परा), उसका निरोध होने से शुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है; और जो सदा ही अज्ञान से अशुद्ध आत्मा का अनुभव किया करता है वह, 'अज्ञानमय भाव में से अज्ञानमयभाव ही होता है' इस न्याय के अनुसार आगामी कर्मों के आस्रवण का निमित्त जो रागद्वेषमोह की संतति, उसका निरोध न होने से, अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है। अतः शुद्ध आत्मा की उपलब्धि से (अनुभव से) ही संवर होता है।

भावार्थ : जो जीव अखण्डधारावाही ज्ञान से आत्मा को निरन्तर शुद्ध अनुभव किया करता है, उसके रागद्वेषमोहरूपी भावास्रव रुकते हैं; इसलिए वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है; और जो जीव अज्ञान से आत्मा का अशुद्ध अनुभव करता है, उसके रागद्वेषमोहरूपी भावास्रव नहीं रुकते, इसलिए वह अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है। अतः सिद्ध हुआ कि शुद्ध आत्मा की उपलब्धि से (अनुभव से) ही संवर होता है।

गाथा - १८६ पर प्रवचन

अब यह प्रश्न होता है कि शुद्ध आत्मा की उपलब्धि.. अर्थात् अनुभव से संवर कैसे होता है? इसी प्रकार से धर्म होगा? ऐसा (पूछता है)। धर्म की शुरुआत शुद्ध आत्मा के अनुभव से ही होगी, वह किस प्रकार? ऐसा पूछता है। यह क्या कहा? कि संवर अर्थात् धर्म। शुद्ध आत्मा के अनुभव से ही संवर कैसे होता है? ऐसा प्रश्न है। उसका उत्तर दिया जाता है। आहाहा! जिसे यह प्रश्न अन्दर से ऐसा उद्भवित होता है कि यह प्रभु आत्मा शुद्ध आत्मा के अनुभव से ही इसे धर्म होगा; बाकी धर्म नहीं होगा, यह किस प्रकार से है? इसकी विधि किस प्रकार से है? ऐसा शिष्य पूछता है। आहाहा! शिष्य ने ऐसा नहीं पूछा कि हम राग क्रिया करते हैं तो धर्म होगा, भक्ति करते हैं, पूजा करते हैं, व्रत करते हैं (तो) धर्म होगा—ऐसा तो पूछा नहीं। यहाँ तो शुद्ध आत्मा के अनुभव से संवर किस प्रकार होता है? (ऐसा पूछा है)। आहाहा! गाथा...

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो ।

जाणंतो दु असुद्धं असुद्ध-मेवप्पयं लहदि ॥१८६॥

नीचे हरिगीत

जो शुद्ध जाने आत्म को, वो शुद्ध आत्म हि प्राप्त हो।

अनशुद्ध जाने आत्म को, अनशुद्ध आत्म हि प्राप्त हो॥१८६॥

आहाहा! जो सदा ही अच्छिन्नधारावाही.. यह सब तो सब सूक्ष्म बात है, भाई! ज्ञान से शुद्ध आत्मा का अनुभव किया करता है.. जो सदा टूटक पड़े बिना, अविच्छिन्नधारा। राग से भिन्न भेदज्ञान (हुआ), वह अविच्छिन्न धारा है। जिसे एक धारा से राग से भिन्न का अनुभव है। आहाहा! अविच्छिन्न धारावाही ज्ञान अर्थात् आत्मा से शुद्ध आत्मा को अनुभव करते हुए। शुद्धस्वरूप है, पुण्य-पाप के राग से तो भिन्न है, उसे अनुभव करते हुए। शुद्ध आत्मा का अनुभव किया करता है वह, 'ज्ञानमय भाव में से ज्ञानमय भाव ही होता है'.. आहाहा! क्या कहते हैं? देखो! संवर कैसे होता है? ऐसा कहते हैं।

ज्ञानमय आत्मा है तो ज्ञानस्वरूप में ज्ञानमय की परिणति करे तो संवर होता है। भेदज्ञान से इस प्रकार से संवर होता है। 'ज्ञानमय भाव में से..' ज्ञानवाला, ऐसा भी नहीं। ज्ञानमय ऐसे भाव में से। मैं तो ज्ञानस्वरूप ही हूँ। जाननेवाला-देखनेवाला ज्ञाता-दृष्टा हूँ - ऐसा जाननेवाले को 'ज्ञानमय भाव में से ज्ञानमय भाव ही होता है'.. उसे तो शुद्धभाव ही होता है। अशुद्धता तो होती ही नहीं। आहाहा! ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा, उसे ज्ञान की अन्तर एकाग्रता होने से ज्ञान होता है; राग नहीं होता, इतना कहना है। ज्ञान शब्द के साथ श्रद्धा होती है, स्थिरता होती है, आनन्द होता है परन्तु ज्ञानमय (भाव) में से ज्ञान होता है। राग को अपना माने तो राग होता है। आहाहा!

मुमुक्षु : यह तो सातवें गुणस्थान की बात है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : चौथे, चौथे की बात है। अभी तो भेदज्ञान चौथे (गुणस्थान) की बात है।

मुमुक्षु : संवर किस गुणस्थान में होता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : संवर चौथे से शुरु होता है। बहुत से ऐसा ही कहते हैं, भाई कहते हैं (वही कहते हैं)। सातवें की बात है, सातवें की बात है। यहाँ तो अभी चौथे गुणस्थान

की, धर्म की पहली शुरुआत (की बात है)। आहाहा! क्योंकि आत्मा पुण्य-पाप के राग से भिन्न है, ऐसा जहाँ भेदज्ञान हुआ, तब उस ज्ञानस्वरूप को अनुभवे और ज्ञानस्वरूप अनुभवने पर ज्ञानमय भाव ही प्रगट होते हैं। आहाहा!

ज्ञानस्वभावी आत्मा को ज्ञानमय से अनुभव करने पर उसमें रागरहित ज्ञानमय भाव होता है। रागरहित ज्ञानमय भाव होता है। ज्ञानमय में से ज्ञानमय भाव होता है। आहाहा! ऐसी बात। ज्ञानमय भाव में से ज्ञानमय ही भाव होता है। ज्ञानमय भाव में से ज्ञानमय ही भाव होता है। अर्थात् क्या कहते हैं? कि शुद्ध आत्मा पवित्र पूर्ण प्रभु है, उसे विकार से रहित अनुभव करे तो उस ज्ञानमय भाव से ज्ञानमय ही भाव होता है। उस शुद्ध के अनुभव में से शुद्ध का ही अनुभव होता है। वहाँ आनन्द आता है और शान्ति आती है और वीतरागता आती है। आहाहा! उसे संवर कहते हैं। आहाहा! ऐसा है।

ज्ञानमय भाव में से.. अर्थात् आत्मा स्वभाव है। शुद्ध चैतन्य नित्यानन्द प्रभु है, उसे ज्ञानमय भाव में से ज्ञानमय भाव होता है। वह ज्ञानमय भाव है, वह शुद्ध है। उसमें से शुद्धभाव होता है। पाठ तो यह है न? 'सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि' उस शुद्धचैतन्य को जानने से, उसकी ओर झुकने से, उसके सन्मुख होने से शुद्ध स्वरूप है, वह शुद्धरूप से परिणमता है। आहाहा! उसमें पुण्य और पाप का परिणमन नहीं आता। अरे.. अरे..! ऐसी कठोर बातें हैं।

शिष्य का प्रश्न था कि भेदविज्ञान से संवर किस प्रकार होता है? उसका यह उत्तर है। कि 'सुद्धं तु वियाणंतो' शुद्ध को प्राप्त करता है। पाठ यह है। आत्मा अन्दर शुद्ध पवित्र अन्दर राग से भिन्न पड़कर गहरे तल में पवित्र है, उसे जो अनुभव करे तो शुद्ध को अनुभव करने से शुद्धता आती है। ज्ञान को अनुभव करने से ज्ञान आता है, आनन्द को अनुभव करने से आनन्द आता है, श्रद्धा को अनुभव करने से श्रद्धा आती है। यह सब निर्मल पर्यायें संवर हैं। समझ में आया?

'ज्ञानमय भाव में से ज्ञानमय भाव ही होता है'.. राग से भिन्न शुद्ध चैतन्य वस्तु है, उसका ज्ञान और श्रद्धा करने से तो आनन्द और ज्ञानमय ही भाव होते हैं। ज्ञानमय ही (भाव होते हैं), राग नहीं। ज्ञानमय भाव ही होता है, राग नहीं होता। द्रव्य के अवलम्बन

से... वस्तु जो शुद्ध है उसके अनुभव से राग कैसे होगा? आहाहा! ऐसी बातें। यहाँ निवृत्ति-फुरसत नहीं मिलती। अभी इसका निर्णय करने की फुरसत नहीं मिलती कि यह क्या है परन्तु अन्दर? आहाहा! अन्दर यह है, वह शरीर से भिन्न है। वह तो द्रव्य (ही) पर है, परन्तु अन्दर में पुण्य के परिणाम होते हैं, उससे भी भिन्न है-पृथक् चीज़ है। दोनों एक वस्तु नहीं है। आहाहा! यह संवर पहले आ गया (है कि) दो वस्तुएँ एक नहीं है। दो की सत्ता एक नहीं है। दोनों की परस्पर स्वरूप विपरीतता है। आहाहा! उसे अन्दर में देखने से शुद्ध पवित्र आत्मा जो पूर्णानन्द का नाथ प्रभु है, उसे देखने से, अनुभव करने से, उस जाति की ही दशा प्रगट होती है। ज्ञानमय (भाव में से) ज्ञान होता है, उसका अर्थ यह है। जो शुद्ध पवित्र जाति है, उसका अनुभव करने पर पवित्रता ही प्रगट हो, वह संवर है। आहाहा!

अब अनजाने मनुष्य को तो (ऐसा लगे कि) किस प्रकार की बात होगी? भाषा (अलग)। यह जैनधर्म की बात होगी? यह किस प्रकार की बात आयी? दया पालना, व्रत करना, अपवास करना, हरितकाय नहीं खाना, ऐसी बात तो आती नहीं। भाई! वह चीज़ तो भिन्न है। जड़ की चीज़ है, वह जड़ की पर्याय से जड़ टिक रहा है। तेरे कारण यह शरीर, वाणी टिकती है, आती है, जाती है—ऐसा नहीं है। इस जड़कर्म के, शरीर आदि उसके परमाणु में आना, जाना, निकलना, कम होना, यह सब उसकी / जड़ की दशा तेरे कारण नहीं है। तेरे कारण तो मात्र वस्तु का अज्ञान, चैतन्यमूर्ति का अज्ञान, उसे राग-द्वेष होते हैं। आहाहा!

जिसे चैतन्यमूर्ति प्रभु शुद्ध चैतन्यघन है, ऐसा जहाँ अन्तरभान हुआ, उसे ज्ञानमय से, ज्ञानमय अर्थात् शुद्ध में से शुद्धमय ही भाव होते हैं। उसे अशुद्धभाव नहीं होते। उसे पुण्य के परिणाम भी नहीं होते, ऐसा कहते हैं। आहाहा! दया, दान, व्रत, तप, भक्ति और पूजा—यह भाव, शुद्ध को अनुभव करने पर नहीं होते। आहाहा!

इस न्याय के अनुसार आगामी कर्मों के आस्रवण का निमित्त.. नये आवरण के आने का निमित्त जो रागद्वेषमोह की संतति.. राग-द्वेष-मोह—मिथ्यात्वादि की (परम्परा) उसका निरोध होने से.. ज्ञानी को उसका निरोध (होता है) - रुक जाता है।

संवर है न ? संवर लेना है। आहाहा! अपना जो शुद्धस्वरूप, शुद्ध है कितना कहाँ? उसकी खबर नहीं होती। किस प्रकार अनुभव करे? आहाहा! इस राग के विकल्प के पीछे अन्दर शुद्धस्वरूप अन्दर है, पर्याय की वर्तमान अवस्था के साथ में अन्तर्मुख में ध्रुवतत्त्व पूरा पड़ा है। उसे शुद्ध की ओर के झुकाव से शुद्धता ही प्रगट होती है। उसे राग-द्वेष और मोह जो आस्रव का कारण, वह उसे नहीं होता। उसका निरोध होता है। लो! आस्रव का निरोध, वह संवर। परन्तु यह। इस प्रकार से (संवर होता है)। आस्रव के प्रत्याख्यान करावे (वह नहीं)। आहाहा!

यह चैतन्यस्वरूप अनन्त पवित्रता का पिण्ड प्रभु है। इसकी वस्तु में पुण्य और पाप के विकल्प-राग वस्तु में नहीं है। नये कृत्रिम खड़े करता है। आहाहा! इससे संसार में परिभ्रमण करता है। परन्तु यह तो अकृत्रिम सदा स्वभाव शुद्ध है। आहाहा! पवित्र है, शुद्ध है, उसका अन्तर अनुभव करने से, शुद्धता के अनुभव से शुद्धता ही प्रगट होती है। उसमें पुण्य-पाप की अशुद्धता प्रगट नहीं होती और शुद्धता प्रगट हो, वह राग-द्वेष और मोह का कारण नहीं होती; इसलिए उसे राग-द्वेष-मोह का आस्रव रुक गया। राग-द्वेष-मोह से जो नये आवरण आते थे, वे रुक गये। निरोध कहा न, निरोध। आहाहा!

मुमुक्षु : वह अशुद्धता कहकर निरोध...

पूज्य गुरुदेवश्री : वे आनेवाले थे नहीं। समझाना किस प्रकार? यहाँ शुद्धता प्रगट की, इसलिए उसे आवरण आने का था ही नहीं। उसे आवरण का निरोध किया, ऐसा कहने में आया। आहाहा! धर्म की बात बहुत सूक्ष्म, बापू! लोगों ने तो बाहर में स्थूल-स्थूल मोटी बात में सब मना दिया। आहाहा! अनन्त काल से यह तो माना है।

निरोध होने से.. कहा न? राग-द्वेष, मोह की सन्तति से इसका निरोध होता है। राग-द्वेष-मोह कौन? किसके? कि कर्म के आस्रव का निमित्त। नये आने का निमित्त। ऐसे जो राग-द्वेष-मोह, उनकी परम्परा के रुकने से नया आस्रव नहीं आता। उसे उस समय नये आस्रव आनेवाले थे नहीं, परन्तु समझाना किस प्रकार? अन्दर शुद्ध चैतन्य के स्वभाव की दृष्टि, ज्ञान और अनुभव हुआ, इसलिए तो वहाँ आगे आस्रव होता नहीं। होता नहीं, फिर आस्रव कहाँ से आवे? भाव आस्रव होता नहीं तो द्रव्य आस्रव आये कहाँ से? द्रव्यास्रव उसे आता ही नहीं। आहाहा!

शुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है;.. वह तो शुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है। आहाहा! शुद्ध को अनुभव करता हुआ शुद्ध को ही प्राप्त करता है। पवित्रता प्रभु की अनुभव करता हुआ पवित्रता को ही प्राप्त करता है, यह संवर है। आहाहा! यह तो जरा प्रौषध किये तो संवर हो गया मानता है। एक दिन, दो टाईम न खाये। आहाहा!

राणपुर में (संवत्) १९८४ में चातुर्मास था न? तुम थे? तब मनसुख था, छोटी उम्र का आठ वर्ष का (था)। आठ वर्ष का। तुम्हारा मनसुख। वे सब वहाँ अपवास करके बैठे थे। ८४ का वर्ष था। बैठ गये, हमारे संवर है, हमारे धर्म है, पाठशाला में प्रतिक्रमण में बोले कि उत्कृष्ट भाव होवे तो वह तीर्थकरगोत्र बाँधे, नहीं तो निर्जरा हो। आहाहा! यह आता है। आहाहा! परन्तु कहा, यह कहाँ से ऐसा (आया)? तब (संवर) १९८४ में कहा था। उत्कृष्ट भाव आवे तो तीर्थकरगोत्र बाँधे, नहीं तो निर्जरा हो। जिस भाव से बन्ध होता है, उससे तो निर्जरा का भाव उत्कृष्ट है। जिस भाव से बन्ध हो, वह तो राग है और जो धर्म होता है, वह तो रागरहित है। कुछ शब्द आता है न?... भाषा भूल गये। उसमें ऐसा होवे तो कर्म की रीढ़ खपे और उत्कृष्ट भाव हो जावे तो तीर्थकरगोत्र बाँधे, ऐसा। उत्कृष्ट होवे तो तीर्थकरगोत्र बाँधे। ऐसी बातें। तब कहा था, यह तुम प्रतिक्रमण में बिना विचारे यह क्या बोलते हो? ऐई! तुम्हारे स्थानकवासी में बहुत आता है। आहाहा! भगवान का वह करने से इत्यादि, ऐसा कि कर्म की रीढ़ खपे। उत्कृष्ट भाव आवे तो तीर्थकरगोत्र बाँधे। उत्कृष्ट अच्छा भाव आवे तो (बन्ध होगा)? परन्तु यही पूरी प्रथा है। आहाहा!

आत्मा को ही प्राप्त करता है; और जो सदा ही अज्ञान से अशुद्ध आत्मा का अनुभव किया करता है.. अब सामने यह बात ली है। जो सदा ही अज्ञान से अशुद्ध आत्मा का.. अशुद्ध आत्मा अर्थात् राग और दयावाला मैं हूँ, यह अशुद्ध आत्मा को अनुभव किया। आहाहा! मैं पर का कर्ता हूँ, कर सकता हूँ और दया, दान, व्रत का राग आया, वह मेरा है, यह अशुद्ध आत्मा को अनुभव करता है। आहाहा! और जो सदा ही अज्ञान से अशुद्ध आत्मा का अनुभव किया करता है वह, 'अज्ञानमय भाव में से अज्ञानमय भाव ही होता है'.. राग और पुण्य के परिणाम अपने मानकर और अनुभव करे, उसे राग होता है। द्वेष होता है, राग होता है, मिथ्यात्व होता है। आहाहा!

‘अज्ञानमय भाव में से अज्ञानमय भाव ही होता है’ इस न्याय के अनुसार आगामी कर्मों के आस्रवण का निमित्त जो रागद्वेषमोह की संतति उसका निरोध न होने से, .. अज्ञान में निरोध कहाँ से होगा ? आहाहा ! अर्थात् राग-द्वेष के कारण उसे नये आवरण आयेंगे । आहाहा ! यहाँ तो कहे, संवर के पच्चक्खाण कराओ (तो) उसे संवर हो जाए । ऐसा सब चला है । धर्म के नाम से ढोंग है । धर्म तो अलग जाति है, बापू ! आहाहा ! यह शुद्ध आत्मा पुण्य-पापरहित, इसके सन्मुख होकर अनुभव करे, तब उसे राग-द्वेष, मोह नहीं होता । इसलिए वह उनके आने का निमित्त है, उस कर्म का निरोध होता है । अज्ञानी राग को अपना मानता है । रागरहित स्वरूप चैतन्य है, उसकी खबर नहीं, इसलिए उसे राग-द्वेष, मोहभाव ही होता है । अशुद्धता को जाननेवाला, अशुद्धता को अनुभव करनेवाला, (उसे) अशुद्धता ही होती है । उसे वह अशुद्धता नये कर्म का कारण ऐसे राग-द्वेष-मोह का कारण होती है । आहाहा ! वह अशुद्धता नये कर्म जो आते हैं, उनका कारण है । लो, है न !

अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है । वह अज्ञानी तो अशुद्ध आत्मा को ही (प्राप्त करता है) । भले चाहे तो व्रत और अपवास करे और भक्ति करे, पूजा करे, यात्रा करे, (तो भी) वह अशुद्धता को ही प्राप्त करता है क्योंकि वे परिणाम मेरे और मुझे उनमें लाभ है, वह अशुद्ध मलिनता को अनुभव करता है । आहाहा ! अतः शुद्ध आत्मा की उपलब्धि से (अनुभव से) ही संवर होता है । यह संवर होता है ; नहीं तो संवर नहीं होता । आहाहा !

‘लाठी’ में आठम को वे सब प्रौषध करे न ? बीस-पच्चीस व्यक्ति इकट्ठे होकर (करते हैं) धर्म हो गया, संवर हो गया । संवर किया, प्रौषध किया, लो ! आहाहा ! ‘लाठी’ में चातुर्मास होवे तब वे लोग करते हैं । अष्टमी को और पाकी, अमावस्या ऐसे एक महीने के चार (प्रौषध करते हैं), वह संवर किया कहलाता है । ऐई ! सब मानते थे । हीराजी महाराज बेचारे कहते । वे कहते । आहाहा ! पूरी बात में अन्तर है, उलट-पुलट बात है ।

अन्त में क्या योगफल कहा ? कि शुद्ध आत्मा के अनुभव से ही संवर होता है । भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य प्रभु की प्राप्ति हो, उपलब्धि हो, अनुभव हो तो संवर होता है । आहाहा ! समझ में आया ?

भावार्थ : जो जीव अखण्डधारावाही ज्ञान से आत्मा को निरन्तर शुद्ध अनुभव किया करता है.. आहाहा! जिसे आत्मा अन्दर शुद्ध चिदानन्द प्रभु राग, दया, दान के विकल्प से भिन्न है, ऐसे आत्मा को जिसने जाना, अनुभव किया... आहाहा! वह अखण्ड धारावाही ज्ञान। ज्ञानधारा अखण्ड बहे। घड़ीक में राग की एकता और घड़ीक में ज्ञान की एकता, ऐसा नहीं। आहाहा!

आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, उसे ज्ञान में एकाग्रता की अखण्ड धारा बहे, भेदज्ञान निरन्तर बहे। पश्चात् करना पड़े नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : निद्रा काल में तो ज्ञान मूर्च्छित रहता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ निचली दशा की बात है। वीतराग होवे उसे, पूरा हो गया।

मुमुक्षु : निद्रा में तो मूर्च्छित रहता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : निद्रा में भी आस्रव रुक गया है। समकित है न! निद्रा में निद्रा, निद्रा की जगह। अन्दर राग से निर्मल परिणमन भिन्न पड़ गया, वह परिणमन कब छूटेगा। निद्रा होवे तो भी क्या? और राग होवे तो भी क्या? आहाहा! आत्मा चिदानन्द प्रभु...

मुमुक्षु : निद्रा में तो उपयोग शुद्ध होता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : उपयोग भले अशुद्ध हो, लब्धरूप परिणमन निरन्तर बहता है। निद्रा में भी लब्धरूप प्राप्ति निरन्तर है। उपयोग मात्र पर में गया है। आहाहा! तथापि राग से भिन्न पड़ी हुई जितनी दशा है, वह दशा तो निरन्तर निद्रा में भी होती है। आहाहा! माता के गर्भ में प्रभु आते हैं, लो न! वह तो समकित, तीन ज्ञान लेकर आते हैं। वहाँ भी संवर, निर्जरा है। आहाहा! समकित और तीन ज्ञान लेकर तीर्थकर माता के गर्भ में आते हैं। सवा नौ महीने परन्तु वहाँ धारा, राग से भिन्न पड़ी हुई धारा कायम रहती है। आहाहा! ऐसी वस्तु है। दुनिया से अलग बात है, भाई! दुनिया बाहर से मानकर बैठ गयी है। आहाहा! एक तो मनुष्यपना मिला, (उसे) हार जाएगा। आहाहा!

यह आत्मा अन्दर चिदानन्द प्रभु, इसके अखण्डधारावाही ज्ञान से.. देखा? भावार्थ। आत्मा को निरन्तर शुद्ध अनुभव किया करता है.. देखा? निरन्तर भले वहाँ उपयोग न हो, परन्तु अनुभव किया करता है। आहाहा! उड़द की दाल में जैसे छिलका पृथक् पड़ा,

वह छिलका बाद में उसे चिपटता ही नहीं। उड़द की श्वेत दाल होती है न? इसी प्रकार भगवान आत्मा;... आहाहा! यह काला जो छिलका-ऐसा पुण्य-पाप का भाव, काला मैल, इससे तो भिन्न पड़कर निरन्तर ज्ञान की धारा बहती है। आहाहा! उसे भावास्रव रुकते हैं.. उसे राग-द्वेष-मोहरूपी भावास्रव। भावास्रव, समझ में आया? राग-द्वेष और मोह, वह भावास्रव है, नये आवरण का कारण है। नये आवरण आवें, वह द्रव्य आस्रव है और यह भावास्रव है। आहाहा!

उसके रागद्वेषमोहरूपी भावास्रव रुकते हैं.. जो आत्मा के आनन्द और ज्ञान को निरन्तर वेदन करता है, अनुभव करता है, भेदज्ञान की धारा में सदा रहता है। आहाहा! उसके रागद्वेषमोहरूपी भावास्रव रुकते हैं.. अनन्तानुबन्धी आदि के जितने राग-द्वेष-मोह हैं, (वे) रुकते हैं। आगे जाने पर जितनी स्थिरता होती है, उतना आगे बढ़ता है। आहाहा! इसलिए वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है;.. 'सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि' यह गाथा है न? शुद्ध को प्राप्त करता है, शुद्ध के कारण से। शुद्ध का जो अवलम्बन करता है, वह शुद्ध को पाता है। आहाहा! इसलिए वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है;...

और जो जीव अज्ञान से आत्मा का अशुद्ध अनुभव करता है,.. आहाहा! मैं तो पुण्य और पाप के भाववाला हूँ, क्योंकि भिन्न चीज़ है, वह तो ज्ञात हुई नहीं है। आत्मा का धर्म जो ज्ञान, दर्शन, आनन्दस्वभाव, वह तो ज्ञात हुआ नहीं। राग और दया, दान परिणाम ज्ञात हुए। उन्हें अपने मानकर राग-द्वेष करता है। आहाहा! शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है और अज्ञान से आत्मा का अशुद्ध अनुभव करता है, उसके रागद्वेषमोहरूपी भावास्रव नहीं रुकते.. आहाहा! भले साधु हो जाए, हजारों रानियाँ छोड़े परन्तु अन्दर में राग की एकता जब तक है, तब तक उसे मिथ्यात्व और राग-द्वेष के भावास्रव हैं, उनसे नये द्रव्यास्रव होते हैं। आहाहा! हजारों रानियाँ छोड़े, साधु होवे तो भी अन्तर में राग की एकता नहीं टूटती, तब तक अशुद्धता नहीं जाती। आहाहा! ऐसा मार्ग!

मुमुक्षु : उपयोग बाहर होवे तो आनन्द आवे। आनन्द ज्ञात होता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : लब्ध है, इसलिए आनन्द सदा है।

मुमुक्षु : ज्ञान में ज्ञात होता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञाता होता है न, ज्ञात होता है। उपयोग भले बाहर हो। प्रगट आनन्द कहाँ जाएगा ? आहाहा !

अतः सिद्ध हुआ कि शुद्ध आत्मा की उपलब्धि से (अनुभव से) ही संवर होता है। लो ! आहाहा ! बहुत संक्षिप्त में (भरा है)। चैतन्यमूर्ति निर्मलानन्द प्रभु को पुण्य और पाप के राग से भिन्न करके उसे अनुभव करे, उसे संवर होता है, धर्म होता है। उसे धर्म होता है, दूसरे को धर्म नहीं होता। यह करोड़ों मन्दिर बनावे और करोड़ों रुपये खर्च करे... आहाहा ! करोड़ों शास्त्र बनावे, फिर सस्ते दे, दस रुपये में पड़े, उसे पाँच में दे, वह तो शुभराग है। आहाहा ! मुम्बई में बहिन की छह हजार पुस्तक वितरित हुई न ? थोड़े बाकी थे, वे शान्तिभाई ने वितरित किये थे। चिमनलाल ठाकरसी, लो ! तीन दिन वितरित किये थे, एकम के दिन भाई ने वितरित किये थे। सौभाग ! वैशाख शुक्ल १, उसके होंगे, तुम्हारे होंगे और तीसरे उसके होंगे। बड़ी सभा में वितरित किये थे। बात में यह है कि उसमें राग की मन्दता होवे तो शुभभाव है। उसमें से ऐसा मान ले कि इसमें धर्म हो जाता है (तो मिथ्यात्व है)। आहाहा ! अरे ! ऐसी कठिन बातें, लो ! पैसेवाले को पैसे से धर्म होता हो तो प्रसन्न होगा, तो निर्धन को धर्म के लिए पैसे खोजने पड़ेंगे। आहाहा ! अरे ! यह शरीर ही काम नहीं करता वहाँ... आहाहा ! शरीर की क्रिया होती है, वह शरीर की जड़ से (होती है), वह काम जहाँ आत्मा का नहीं... आहाहा !

मुमुक्षु : मन्द कषाय में धर्म तो नहीं होता परन्तु धर्म का चान्स, अवकाश, अवसर अवश्य मिलता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : जरा भी नहीं मिलता। इस शुद्धता को प्रगट करे, तब इसे धर्म का अवसर मिलेगा। शुभभाव चाहे जितने लाख, करोड़ करे, (तो भी) शुद्धता का अवसर नहीं मिलता। आहाहा ! मोक्षमार्गप्रकाशक में एक जगह जरा कहा है कि शुभ बहुत हो तो निमित्त अच्छे मिलते हैं। तो कहीं कदाचित् वहाँ से समझे, ऐसा। ऐसा एक आता है। वह तो कहीं समझे तो निमित्त कहलाये और नहीं तो (नहीं कहलाये)। मोक्षमार्गप्रकाशक में आता है। सब खबर है... आहाहा ! उसमें से वे लोग निकालते हैं। देखो ! इसमें कहा है,

शुभभाव करे तो ऐसा करते-करते उसे निमित्त कहीं अच्छे मिलें तो निमित्त से प्राप्त कर जाए। निमित्त से प्राप्त नहीं करता; उपादान से प्राप्त करता है। उसके उपादान से प्राप्त करे, तब निमित्त कहने में आता है। आहाहा! बहुत अधिक अन्तर है, भाई!

कलश-१२७

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:-

(मालिनी)

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन,
ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते ।
तदय-मुदय-दात्माराममात्मानमात्मा,
परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ॥१२७॥

श्लोकार्थ : [यदि] यदि [कथम् अपि] किसी भी प्रकार से (तीव्र पुरुषार्थ करके) [धारावाहिना बोधनेन] धारावाही ज्ञान से [शुद्धम् आत्मानम्] शुद्ध आत्मा को [ध्रुवम् उपलभमानः आस्ते] निश्चलतया अनुभव किया करे [तत्] तो [अयम् आत्मा] यह आत्मा, [उदयत्-आत्म-आरामम् आत्मानम्] जिसका आत्मानन्द प्रगट होता जाता है (अर्थात् जिसकी आत्मस्थिरता बढ़ती जाती है) ऐसे आत्मा को [पर-परिणतिरोधात्] परपरिणति के निरोध से [शुद्धम् एव अभ्युपैति] शुद्ध ही प्राप्त करता है।

भावार्थ : धारावाही ज्ञान के द्वारा शुद्ध आत्मा का अनुभव करने से रागद्वेषमोहरूप परपरिणति का (भावाम्रवों का) निरोध होता है और उससे शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है।

धारावाही ज्ञान का अर्थ है प्रवाहरूपज्ञान-अखण्ड रहनेवाला ज्ञान। वह दो प्रकार से कहा जाता है:- एक तो, जिसमें बीच में मिथ्याज्ञान न आये, ऐसा सम्यक्ज्ञान धारावाही ज्ञान है। दूसरा, एक ही ज्ञेय में उपयोग के उपयुक्त रहने की अपेक्षा से ज्ञान की धारावाहिकता कही जाती है, अर्थात् जहाँ तक उपयोग एक ज्ञेय में उपयुक्त रहता है, वहाँ

तक धारावाही ज्ञान कहलाता है; इसकी स्थिति (छद्मस्थ के) अन्तर्मुहूर्त ही है, तत्पश्चात् वह खण्डित होती है। इन दो अर्थों में से जहाँ जैसी विवक्षा हो, वहाँ वैसा अर्थ समझना चाहिए। अविरतसम्यक्दृष्टि इत्यादि नीचे के गुणस्थानवाले जीवों के मुख्यतया पहली अपेक्षा लागू होगी, और श्रेणी चढ़नेवाले जीव के मुख्यतया दूसरी अपेक्षा लागू होगी क्योंकि उसका उपयोग शुद्ध आत्मा में ही उपयुक्त है॥१२७॥

श्लोक - १२७ पर प्रवचन

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:- १२७ (कलश) ।

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन,
ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते ।
तदय-मुदय-दात्माराममात्मानमात्मा,
परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ॥१२७॥

आहाहा! यदि किसी भी प्रकार से.. पुरुषार्थ से। आहाहा! अन्तर के तीव्र पुरुषार्थ से। 'दारुण दारेणन्' आ गया था न। उग्र पुरुषार्थ से। स्व सन्मुख (झुके)। [धारावाहिना बोधनेन] धारावाही ज्ञान से.. आहाहा! जिसकी ज्ञानधारा छूटे नहीं। राग रहे परन्तु रागधारा अलग और ज्ञानधारा अलग (रहे), दोनों धारा दोनों धाराओं का काम करे। आहाहा! धारावाही ज्ञान से.. शुद्ध आत्मा को.. [शुद्धम् आत्मानम्] पवित्र आत्मा को। [ध्रुवम् उपलभमानः आस्ते] निश्चलतया अनुभव किया करे.. ध्रुव अर्थात् निश्चल, उपलभ अर्थात् अनुभव, आस्ते अर्थात् करे। निश्चलतया अनुभव किया करे.. आहाहा! पहली तो यह बात है कि जिसे आत्मा की महिमा ही नहीं आती, सब पूरी दुनिया से निराली चीज़ कोई अलग है, जिसकी महिमा का पार नहीं... आहाहा! ऐसा यह भगवान आत्मा अन्दर दया, दान के विकल्प से भिन्न पड़ा है। आहाहा! परन्तु यह बात कैसे जँचे? अनादि की बाहर नजर है। यह दया पालन करो, यह व्रत करो और यह अपवास करो, यह पूजा करो, भक्ति करो। आहाहा! इससे उसे इस राग की क्रिया से भिन्न है, यह कैसे जँचे? जिसे राग में प्रेम है और जो राग का रसिक है,

(वह) राग में रसिक हो गया है, उसे भगवान (आत्मा) राग से भिन्न है, आनन्दकन्द प्रभु है, वह शुद्ध कैसे जँचे ?

यहाँ तो कहते हैं, धारावाही ज्ञान से शुद्ध आत्मा को निश्चलतया अनुभव किया करे.. आहाहा! तो [अयम् आत्मा] यह आत्मा, [उदयत्-आत्म-आरामम् आत्मानम्] जिसका आत्मानन्द प्रगट होता जाता है.. आहाहा! [उदयत्-आत्म-आरामम् आत्मानम्] आहाहा! जिसका आत्मानन्द प्रगट होता जाता है.. जिसकी आत्मपरिणति बढ़ती जाती है, ऐसे आत्मा को.. [पर-परिणतिरोधात्] परपरिणति अर्थात् राग की दशा को रोककर निरोध से.. आहाहा! संवर है सही न? राग का कण चाहे जो हो, भगवान की भक्ति आदि (हो) परन्तु उसे रोककर। आहाहा! आत्मा को स्थिरता बढ़ती जाती है, रागादि नाश होता जाता है।

परपरिणति के निरोध से.. [शुद्धम् एव अभ्युपैति] शुद्ध ही प्राप्त करता है। लो! बहुत संक्षिप्त किया। स्वयं अपना आत्मा शुद्धस्वरूप त्रिकाल है, उसे वर्तमान में प्राप्त करके, निरन्तर धारावाही अनुभव करके, उसे अशुद्धता नहीं होती। इसलिए वह शुद्धता को प्राप्त करता है। विशेष कहेंगे.... (श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)